टुकड़ों में बँटा आकाश

छविनाथ मिश्र

वाङ्मयी प्रकाशन
कलकत्ता

मूल्य २० ०० रुपया

प्रथम संस्करण १९८६

आवरण सज्जा श्री शम्भू प्रसाद श्रीवास्तव

प्रकाशक वाङमयी प्रकाशन
१७८, महात्मा गांधी रोड,
(२ तल्ला), कलकत्ता-७

मुद्रक एसकेज,
८, शोभाराम बसाक स्ट्रीट,
कलकत्ता ७००००५

आशा अशु को—
जिसके बिना मेरी
कवि चेतना एव रचना यात्रा के
मुखर क्षण
अब तक कही
सन्नाटा झेल रहे होते ।

—छविनाथ मिश्र

कविता मे खुशबू लिखते हुए अपने आकाश की तलाश

□□

'टुकडो म बँटा आकाश' मेरे बाहर भीतर और इद गिद के वाङमय आकाश की पहचान और अभिव्यक्ति का एक दरका चिटखा आईना है, जिसक कई टुकडो मे प्रतिबिम्बित है मेरे रचना ससार का कुछ हिस्सा और अंकित हैं मेरी कविता यात्रा के कुछ परिदृश्य, कुछ पडाव ।

मेरी सहज दृष्टि मे वस्तुनिष्ठ एव व्यक्तिनिष्ठ भाव व्यजना अथवा मानसिकता के कई स्तरो को चीरती हुई चेतना की एक सर्वाधिक भास्वर भूमि है, जिसकी तरगो का स्वाभाविक स्प दन ही कविता है। जो भाषिक सरचना के साथ शब्द प्रतीक के माध्यम स जिए गए या मन की गहराई तक समझे सहेजे गए क्षणो के काव्यात्मक पक्ष को उजागर करती है और अपने समय के मिजाज को अभिव्यक्ति की विभिन्न मुद्राओं या विधाओ मे नए अथ एव नए नाम देती रहती है। इसके अलावा मुख्य रूप से वस्तुओं एव भावो के अ त सौ दय तथा अ तर आस्वाद के साथ इतिहास की अगली सम्भावनाओ को सहारा देती हुई अपने प्रस्थान या रवानगी का जरूरी सकेत देती रहती है।

वस्तुत कविता गमक की प्रतीति है, वह जहा भी जिस महल्ले या माहौल मे होती है उसकी सुग ध अथवा गुणवत्ता ही उसकी पहचान एव मूल्य को आंकती उभारती है। समझ की इसी रोशनी मे स्वय को तोडते तराशते कविता की अ तरग गमक तक पहुँच पान की कोशिश करता रहा हूँ ।

सच कहूँ तो, 'कविता मेरे होने जैसा ही एक सच है",—हालाकि कविता म रोजी रोटी की लडाई जारी रखत हुए मेर ढेर सारे सच टूट हैं, झूठे साबित हुए— जिनसे उम्मीद थी कि वे कविता मे पैसो का सुनहला पेड उगायेंगे—इ तजार में स्वय ठूँठ हो गया लेकिन कविता में जीने का सुख और उसकी खुशबू दोना मेरे हिस्से के आकाश और जमीन की पहचान बनाये रहे। शायद कविता लिखने की यही कुछ साथकता या शत उभरती ठहरती है।

टुकडो में बटा आकाश आपके हाथ में है और मैं आपकी पहुँच के भीतर हूँ ।

कृष्ण ज माष्टमी, २७ ८ ८६

छविनाथ मिश्र

कई टुकड़ों में बँटा आकाश

□ □

कई टुकड़ों में बँटा आकाश
लगता है कि जैसे—
गिर गया हो हाथ से दरपन

उभरते हैं बहुत सारे कटे टूटे अक्स
लेकिन वक्त इतना बेमुरव्वत है—
कि वह संवेदनों का सही अंकन
प्यार, पीड़ा, आदमी या दास्ताँ
यानी एक लम्बा सफर
एक पूरी उमर
सब का सब अचीन्हे दायरों में
कैद करके भाग जाता है—

फ्रेम सी लटकी दिशाएँ
बहुत सूनी, बहुत खाली
अँट गया है सिर्फ खालीपन

इस तरह धुँधला गई है रोशनी की सतह
एक भी चेहरा उजागर नहीं होता
बड़ी तेजी से अँधेरा उग रहा है
पुतलियों में बन्द-सी हो गई है हर सुबह
सामने परछाइयों के
सिलसिले ही सिलसिले और कितने नाम
जिन्हें सूरज रोज किरणों के
सुनहले चाकुओं से काट जाता है—

सद यादें हुलसती हैं
बाँधती हैं
किन्तु फिर फिर बँध न पाता और कोई मन
कई टुकड़ों में बँटा आकाश

रचना १० ६ ६७
प्रकाशित/साप्ताहिक हिन्दुस्तान ३ नवम्बर १९६८

भीड़ ओढ़े लोग

□ □

भागते हैं
बहुत चेहरे और कितने ही मुखौटे
भागते हैं, भीड़ ओढ़े लोग

हवा मे तिरता हुआ कुछ
हर इकाई को अकारण फींचता सा
दृष्टि मे अटका हुआ क्षण
वस्तु सत्ता से परे कुछ
वृत्त कोई खींचता सा
लग रहा जैसे कही कुछ भी नही है
सिफ —हां, हां—सिफ
कुछ है भी अगर—
तो यत्रगत सयोग
भीड ओढे लोग

धूप की सोनल मुंदरियो-सा कही कुछ
निगल जाने की नियति से जुड गया है
शाम कितनी फूलपखी मछलियो सी
तैरती है, और मछुवाहा समय का
ठीक घर की ओर बेबस मुड गया है—
विन्दुवत कुछ दीखता है जहा ये हम, वही
हां, हां—वही
और हम सब कुछ नही है—
सिफ लगता है प्रयोग
भागते ह—
भीड ओढे लोग

रचना १९६१
प्रकाशित 'वातायन' बीकानेर

सशय समय के चिटखने का

□ □

पल पल घुघ और
टूटा सकल्प कही गन्ध सेतु रचने का

प्यार की तलाश—
अर्थहीन यह प्रसग बन्धु !
राहो मे बिके हुए देही आयामो ने
तोड दिया
अथ नया जोड लिया
जूडे मे बँधी हुई जवाकुसुम शामो ने

पोर-पोर सुन्न और
आँखो मे प्रश्न लिखा जीने का बचने का

चेहरो पर उगा हुआ नामहीन सवेदन
सूने मे बेध गया
गहरे सम्बन्धो को
रीत गया—
मन यो ही बीत गया
रोशनी विरासत मे मिली सिर्फ अन्धो को

द्वार द्वार बन्द और
जीते हैं सशय हम समय के चिटखने का
टूटा सकल्प कही
गन्ध सेतु रचने का

रचना १९६९
प्रकाशित/साप्ताहिक हिन्दुस्तान ८ मार्च १९७०

सूनापन खिलता है

□ □

बेला की टहनी पर
सूनापन खिलता है

इतना निस्सग क्षितिज
और सेतु टूटा सा
लगता है
अपनापन दूर कही छूटा सा
अथहीन गन्ध उडी
यादो की भीड जुटी
सारा मन छिलता है
सूनापन खिलता है

पोखर मे प्रतिबिम्बित
आसमान सा ठहरा
जीने की
शर्तों पर मरे क्षणो का पहरा
मुट्ठी मे बन्द मलय
समय किसी बूढे की
गदन-सा हिलता है
सूनापन खिलता है

रचना ३ ३-६५
प्रकाशित/साप्ताहिक हि दुस्तान ११ जून १९६७

छन्दहीन एक वर्ष और

□ □

बीत गया
छन्दहीन एक वर्ष और

सूर्यमुखी के तिकोन सुआपद्म पात पर
किरणों की भाषा में कितनों के नाम लिखे
जीवन की गन्ध मुग्ध इकलौती बात पर
अपने ही कथ्य कथन
सब के सब गैर दिखे
छूता है कहीं नहीं
क्षण-क्षण के होने या चुकने का बोध
मन की इस जड़ता पर
कौन करे गौर ?
एक वर्ष और

इतना अवकाश कहाँ, तुमसे कुछ कहूँ मीत
वस्तुमुखी संवेगों की पिछली याद-कथा
स्वर की दहलीज मौन, रीत गए गीत
लिखता है समय कहीं
रचना की देह व्यथा
उगता है, यहाँ वहाँ—
फूलों की आँखों में कोई संवाद
बिलक उठे बाग़ों में
आमों में बौर
बीत गया
छन्दहीन एक वर्ष और

रचना १९६५
प्रकाशित/दैनिक सन्मार्ग १८ १ ८१

चीखता पलाश-वन

□ □

चीखता सिवान पार का पलाश वन
फूलो को भून रहे हैं मशीन गन

मुखर हुई प्राणो मे युद्धमुखी 'मेघना'
पद्मा मे तैर गई
रक्तिम सवेदना
ठहर गई कन्धो पर माटी की गन्ध
जूझ रही है, कोई प्यारी सौगन्ध

लोकदहन एक ओर, मुक्ति-यज्ञ एक ओर
हिंसा की अग्निशिखा
रक्त का हवन
चीखता सिवान पार का पलाश वन

आग मे दहकता है, सोने का देश
मुक्तिगान रचता है आहत प्रतिवेश
हरे-हरे खेत और
भरे-भरे नदी ताल
रक्तस्नात मुक्तकेश, एक रग लाल लाल

झेल रहे ह नृशस दष्टि का दबाव
तोते सी देह और
मैना सा मन
चीखता सिवान पार का पलाश वन

रचना १९७१
प्रकाशित/अन्तराल १९७२

टेकों में बधी शाम

□ □

लाल-पियर दीख रहा पश्चिमी चबूतरा
गोधूली छील रही है जैसे स तरा—
सूरज के हाथ कई चुके अथ वेचती
क्षितिजो के नाम
एक वेबसी सहेजती

छिलको के बीच घिरी दृष्टि पर फफ दी सी
जि दगी खुरचती है दृष्टि-बोध मरा मरा
पेडो की टुनगी पर क्षण रेंगे अनवीते
टूट गए धीरे से
किरण किरण के फीते

रोशनी दुबकती-सी जगल के पार गई
आसमान बाट रहा यादो का आसरा
अधियारा टहल रहा है किसी सिपाही सा
पूरा परिवेश तना है
नौकरशाही सा

गधिल स्वर क द कही प्यार की कचहरी मे
टेको मे बँधी शाम, खोज रही अ तरा
लाल पियर दीख रहा
पश्चिमी चबूतरा

रचना १५ ७ ६६
प्रकाशित/साप्ताहिक हि दुस्तान ४ दिसम्बर १९६६

एक भी दरपन न दिखता

□ □

एक भी दरपन न दिखता
किसी की पूरी विवशता
जो कही परखे, सहेजे
        सहज-सीधा कुछ उभारे

चुक गई है एक बेवा सदी जैसी
बात जो महकी कभी थी
ओठ से मन तक खिली सी

मन सरीखा मन न दिखता
जो कही पल भर
हुलस कर
किसी को आके उरेहे
        किसी को सिरजे सँवारे

एक सकट से उबर कर एक सकट से घिरा सा
युग बहुत कुछ लग रहा है
टूट कर औंधा गिरा सा

हर कदम अपशकुन दिखता
खप न पाए कही
चौहे मुँहो तक आए कलेजे
        कौन डूबे को उबारे
सहज सीधा कुछ उभारे
एक भी दरपन न दिखता

रचना १९६१
प्रकाशित/वातायन बीकानेर

काँच के टुकडों जैसा समय

□ □

अनायास ही तोड दी गई हो जैसे घडिया सडको पर
समय टूट कर
बहुत-बहुत बारीक काच के टुकडो जैसा
बिखर गया है

खण्ड खण्ड मे बँटी बँटी-सी दिशा काल की चुभती दूरी
और नापने को सारा आकाश पडा है
दौड रही चेतना मन्त्रवत
हर लमहे पर मूल्य जडा है
भीडनुमा अस्तित्व नगर का
राजपथो से चौराहो-गलियारो तक घायल कुत्ते सा
घाव जीभ से चाट चाट कर
बिसरे हुए क्षणो का टूटा सेतु लाघ कर
आगे-पीछे पसर गया है

दुखती हुई रगो को छूकर जी लेने की दौड धूप मे
कही रोशनी और अँधेरे का समझौता
टूट गया है
रोज रविश या बन्दिश जैसी रेखाओ का
खिचते रहना
किसी अर्थ की खीच तान मे
प्यार अपरिचय जैसा बेरुख
किसी बिन्दु पर छूट गया है
सासें दुहता हुआ अपरिचित मौन टूट कर
अस्तमान सूरज के पहले
जीवन की बेताल-बेडौल
गहराई तक उतर गया है
समय टूटकर
बहुत बहुत बारीक काच के टुकडो जैसा
बिखर गया है

रचना १९६५

धुँधलाया दिशा-बोध

□ □

गूँगे आतंक
और दृष्टिहीन निश्चय के साथ
हम कहाँ जाएँ

खेमों में बँटी हुई जीने की शर्तों ने
मूल्यों की आखिरी इयत्ता को तोड़ दिया
आहत परिवेशों में नुचे हुए अर्थों को
लावारिस सम्पाती
बोधों पर छोड़ दिया

वक्त की कनातों के
इर्द-गिर्द मँडराती गोश्तखोर सज़ाएँ
दृष्टिहीन निश्चय के साथ
हम कहाँ जाएँ

फूलों की पँखुरी पर उगा हुआ हस्ताक्षर
जाने क्यों कन्धों पर बन्दूकें थोप गया
यह कैसी लाचारी
संग्रामी स्थिति में
टहनी जैतून की हथेली पर रोप गया

धुँधलाया दिशा-बोध
साथी हैं, विघटन, सन्त्रास और कुण्ठाएँ
गूँगे आतंक
और दृष्टिहीन निश्चय के साथ
हम कहाँ जाएँ

रचना १९६४

अजनबीपन का पीड़न

□ □

दरवाजे पर ठूठ
और भीतर कमरे के नये फ़र्श पर
उभरी हुई चिपचिपी सीलन

पूरे घर मे कई तरह के अनुत्तरित कुछ प्रश्नो जैसी
हवा रोज दीवारो से टकराकर मुझको गुहरा जाती
एक सयमित दूरी तक जाकर
मन वापस आ जाता है
टोना पढती सी क्षण क्षण पर
अगली सुबह प्यार से पिछली सारी बातें बिसरा जाती

बन्धु ! सुनो
टुकडो मे टूट रहा आसमान
एक साथ चलो कई लाख हाथ थामे

समय उठा तेज हुई दबी हुई आहट
पुलक उठी धरती के माथे की सलवट
धूप ने बगावत की
दहक उठी फूलो के ओठ जडो रोशनी
अश्व हुए विशृंखल, लुढक गया अंशुमान
टूट गई किरणो की
रेशमी लगामे

बिदक गई हवा कही अब कुछ नया होगा
बेचारे निष्कर्मा क्षितिजो का क्या होगा
अघटन' का द्वार खुला
टूट गया
नकली आवाजो का सिलसिला
शिखरो पर आरोपित ढहे सभी कीर्तिमान
लिपट गई
मृत्युमुख विकल्पो से शामे

रचना १९६५
प्रकाशित/वातायन १९६७

वक़्त को न टोकना !

□ □

बन्धु इधर आने दो
वक्त को न टोकना

कैंची की तरह तेज अभी अभी गुज़रेगा
पियराए पातों को
छाटेगा, कतरेगा
    हट जाओ
    हट जाओ
    थोड़ा सा कट जाओ
अगले का स्वागत है—दरवाज़े दरवाज़े
नागफनी रोपना
वक्त को न टोकना

आने दो
फूलों का इत्रपन उड़ेलेगा
हर गुदाज़ सपने का बाकपन उघेड़ेगा
    खुद को तुम
    बिछवा दो
    पेट-पीठ नपवा दो
ठीक ठीक नापेगा,
पेशा है
रोशनी अँधेरे का ब्योंतना
वक्त को न टोकना

रचना १९६७

टूटते ही टूटते जाना

□ □

जी रहे हैं हम हवा के स्तरों पर
आधुनिक मन का अपरिचय
और अपना ही विभाजन

खीझकर अपने समय को दृष्टियों में आँट लेना
और मन को गणित रेखा के नियम से बाँट देना
यन्त्रणा है, यातना है
देह के सीमित समय से जूझना कितना विसंगत
जहाँ हमसे ही हमारा सर्वनाशी सामना है
उग रहा है
हर जगह कोई अनिश्चय
और चेहरों पर लिखा है
रक्तशोषी समय यापन

टूटते ही टूटते जाना क्षणों के सिलसिले का
और खिंचते ही चले जाना उभरते फासले का
अर्थ हम जीते नहीं हैं
सिर्फ जीने के लिए ही प्रश्न ओढ़े पड़े रहना
बात है या दंश कोई जिसे हम छूते नहीं हैं
रच रहे हैं
हम कहीं कुछ मौन विस्मय
और चिन्तन की दिशा का
एकआयामी खुलापन
और अपना ही विभाजन

रचना १९६५

आओ आवाज़ पिएँ

□ □

महँगी ह वस्तुएँ
आओ आवाज पिएँ

मिल जुल कर भीड़ रचें
भाषण
वक्तव्य चखें
जीने के लिये सिर्फ
        झूठे सवाद जिएँ
        आओ आवाज़ पिएँ
ससद से मचो तक
मचो से पचो तक
पचो की मुँहबोली
दूध नदी सी उतरी
आस पास है पसरी
        चाहे तो पीलें
        कगालिन
        भूखी ऋतुएँ
आओ, आवाज पिएँ

रचना १९६५

सड़क पर एक चेहरा

□ □

भीड से कटकर
सडक पर
एक चेहरा गिर गया है
लपक कर मैंने उसे अपनी हथेली पर रखा तो
लोग कहते हैं कि यह चेहरा
तुम्हारा तो नही है
समझ मे आता नही है
क्या ग़लत है
क्या सही है
और मेरा अह
ऐसे ही हज़ारो लाछनो से घिर गया है
एक चेहरा गिर गया है
साथ ले जाना मगर पहले प्रमाणित तो करो तुम
क्या पता, कब कहाँ खुद को
रास्ते मे फेंक आए
यही क्या कुछ सोचता हूं
और
खुद को खोजता हूं
स्वयम् का होना
न होना भी अचानक दृष्टियो मे तिर गया है
भीड से कट कर
सडक पर
एक चेहरा गिर गया है

रचना १९६२

समय का बीतना

□ □

किरण आजें
धूप बाटें—
सूर्य से सीख हथेली पर समय को चित्रना

कही रचना के क्षणो का बुनमुनाकर टूट जाना
किसी निश्चय का
समूचा अथ अस्वीकारना
चेतना की घाटियो मे
सिफ कुहरा
बहुत गहरा
दृष्टि रोपे
धुन्ध छाटें—
अथ कुछ रखता नही जल पर लकीरें खीचना

दायरो मे क़ैद जीवन मुट्ठियो मे बन्द है सवेदना
गढ न पाती है—
नया सकल्प कोई अवकटी सचेतना
एक सन्नाटा
नसो को चीरता है
चीखता है
होठ खोल
मौन काटें—
इस तरह अच्छा नही लगता समय का बीतना

रचना १५ ७-६७
प्रकाशित/साप्ताहिक हिन्दुस्तान ३ नवम्बर १९६८

• बिम्ब
थरथराते
हैं

चलो दरवाज़े टेरते

□ □

साँझ हुई
टूट गया धूप का तनाव
चलो—
दरवाज़े टेरते

दिन भर की सतही स्थितियो को तोडकर
टूटे क्षण भीतर गहराई तक फिसल गए
कितने अनभोगे क्षण
सहमे खरगोशो की तरह कई झुण्डो मे
दूर निकल गए, बहुत दूर निकल गए
होठो पर याद की लकीर एक
कांप गई
तेज हुआ टूटन का अनकहा दबाव
चलो--
दरवाजे टेरते

बिम्बो से कटा हुआ सवेदन ओढकर
अँधियारा दूर कही जगलो पहाडो से
यहा-वहाँ उतर गया
अन्तरग आहट का एक प्रश्न अनसुलझा
खाली ताबूतनुमा कमरे की
खिडकियो मुँडेरो पर ठहर गया
आरोपित प्रतिश्रुति की बेबसी
उछाल गई
आखो मे झूल गया दैनिक दुहराव
चलो,
दरवाजे टेरते

रचना १९६५
प्रकाशित/साप्ताहिक हिंदुस्तान ३ नवम्बर १९६८

खिड़की के पार

□ □

खिड़की के पार दूर बादल मँडराए
भीतर ही भीतर कुछ सपने मँजराए

याद गन्ध भिगी लिखी पाती-सा मौसम
बातों ही बातों मे जुड़ता सा मौन भ्रम
यक्ष-व्यथा ओढ़े आकाश पड़ा गुमसुम

धुले धुले बीते क्षण ऐसे अँकुराए
जैसे अहिवाती का
आँचल भर जाए

वन-श्री को प्यार से सँवार गया वनमाली
खेतों की बाहों मे बँधी-बँधी हरियाली
सगोपन तोड़ रही हो जैसे 'घरवाली'

लिपे पुते चौरो पर दिए झिलमिलाए
बरसो से मुरझे
तुलसी दल कजराए

मेहदी के रग रँगे आगामी क्षण उभरे
पगो मे खिच आए दूर दूर के चेहरे
सिंदुराए आँगन मे सावन के गीत ढरे

क्षितिजों के गाँव कहीं बिजुरी इठलाए
दिशा-दिशा बरखा से
काजल अँजवाए
खिड़की के पार दूर बादल मँडराए

रचना १९६३

लिखती-सी ख़त कोई

□ □

झुक आई छज्जो पर बरखा की शाम
लिखती सी खत कोई
पीडा के नाम

बस्ती से दूर कही आसमान टूट गया
बैगनी अँधेरे सी तिरती है याद
लरक गया आँगन का
सूर्यमुखी फूल
आँखो की तरह घुले, तुलसी के पात

जूझ गया पुरवा से
सूर्य मुख प्रणाम
पीडा के नाम

सँझबातो की वेला जाने कब बीत गई
पिघल गए चुपके से सारे अहसास
दूरी को झेल गए
देहरी दुआर
भटक गई गीले फैलावो मे सास

नामो से कटे कटे
रास्ते तमाम
पीडा के नाम
झुक आई छज्जो पर बरखा की शाम

रचना १५-७ ६७
प्रकाशित/साप्ताहिक हिन्दुस्तान नवम्बर १९६८

बिम्बों का कांपना

□ □

एक ही विधान और बिम्बों का कांपना
वर्ष भर जिया मैंने

धुंधलापन झेल रहे झूठे प्रतिमान
और अक्स सब सुनहले
वस्तुएं रहीं नहीं, जैसे थीं पहले

उतर गए गहरे कुछ
सम्प्रेषित अर्थों को कसे कसे शब्द
अपना ही नाम—
और पिछले सन्दर्भ कई रंगों में आँकना—
वर्ष भर जिया मैंने

आँखों में झूल रहे ऋतुपर्वी उद्वेलन
और गीत अनलिखे
मन की मणिप्रभता को समय कहाँ परखे

एक क्षण पकड़ने तक
अलग अलग वृत्तों में अस्त हुआ सूर्य
यादों की टहक
और घर-बाहर मित्रों में अपने को बाँटना
वर्ष भर जिया मैंने

रचना १९७१

सोनाल क्षण चटके
□□

टूट गया सन्नाटा
मौन कहीं
ठहर गया

नीवूई डैनो से खिडकी महलाती
सिरहाने तक आई
धूप चहचहाती

तुमने अँगडाई ली आसमान दुहर गया
मौन कही ठहर गया

ओठो पर मौसम की चित्र क्या आँकती
हवा चली गई
घिसे पिटे अथ हाँकती
सोनाली क्षण चटके सूनापन सिहर गया
मौन कही ठहर गया

जीवन के अगले सन्दभ को सँवारती
दिन भर की बात चली
सपने दुलारती
जूडे मे गुथा फूल आस पास बिखर गया
मौन कही ठहर गया

जीने की काक्षाएँ प्यार मे भिगोई
दरवाजे पर जडता
प्रतिश्रुतिया कोई
छोटे से आँगन मे अश्रु-केतु फहर गया
मौन कही ठहर गया

रचना १९६६
कादम्बिनी मई १९६७

वहुत दिन वीते

□□

वहुत दिन वीते कि तुमको
                    खत न लिख पाया

कही रत्ती भर हँसी दिख जाय
ओठो पर सुनहरी—
इसलिए दिन भर उजाला कूटता हूँ
एक क्षण अपना नही है—
जहाँ खुद को जोड पाऊँ
मैं निरन्तर टूटता हूँ और केवल टूटता हूँ
क्या कहूँ—
क्यो उभर आई कई खडो मे तुम्हारे प्यार की
बेनाम छाया
बहुत दिन बीते कि तुमको
खत न लिख पाया

विवशताएँ है कि रोटी और ऑफिस
फर्क कुछ रखते नही है
इसलिए जी भर अँधेरा नोचता हूँ
एक पूरे शहर जैसा जिस्म
मेरी ऐंठनो मे कैद लगता
बदहवासो की तरह मैं सोचता हूँ
किन्तु इसका अर्थ
यह हरगिज नही है—
बेवजह मैंने तुम्हारा
दिल दुखाया
बहुत दिन बीते कि तुमको
खत न लिख पाया

रचना १९६६
कादम्बिनी अगस्त १९६७

खेतों पर झुका आकाश

□ □

बहुत पीछे छोड आए
बाँस की खुरदरी वशी
और खेतो पर झुका आकाश

कई यादें—
लोकगीतो के स्वरो मे थरथराती हुई
अब भी, किधर जाएँ
एक पूरी गीतवेला सुई सी चुभती हुई
कैसे भुलाएँ

वेदनाओ से जुडा लगता व्यतीत
किन्तु सब लगते पराए
गाव घर, सीवान, जगल और रक्तपलाश
बहुत पीछे छोड आए

यत्रणाएँ—
समझ मे आता नही है कहा इनसे
अलग कटकर जिएँ
और चुकती दृष्टिया कब तक निराश्रय
टगी कुहरा पिएँ

अब अपरिचय ही अकेला मीत
अब सब लगते धुआए
तोड आए सेतु परिचय और गीले प्यार का मधुपाश
बहुत पीछे छोड आए
बास की खुरदरी वशी
और खेतो पर झुका आकाश

रचना १९६६
कादम्बिनी दिसम्बर १९६८

चाँदनी बटोरें

□ □

चलो कही
जगल मे चाँदनी बटोरें

हम हैं, जो धुआँ और कुहरे को कूटते
गाँवो से नगरो तक
आसमान कूँथते

कही नही उजलापन
आओ,
यो ही टहलें
बाहर कुछ दूर चलें
भीतर की चौहद्दी अनमनी अँजोर
चाँदनी बटोरें

रीत गए अर्थो को अँधियारा छीटता
लोहे के पौधो पर
मौसम सर पीटता

यन्त्रिल रोशनियो के
फूल गन्ध हीन खिले
पँखुरी के ओठ सिले
चलो, कही प्यार गन्ध चन्दनी अगोरें
चलो कही
जगल मे चाँदनी बटोरें

रचना १९६४

सेमल के फूल खिले

□ □

सेमल के फूल खिले छाह थरथराई
जीवन के पृष्ठ खुले
याद उभर आई

महुये के फूलो ने मादक स्वर छेडा
फागुन के ओठ हिले
बाह कसमसाई

बाटा खलिहानो ने खेतो को न्योता
हसियो के दूत चले
फसल गुनगुनाई

फूले वन टेसू को सूनापन निगले
धुँधलाये क्षण मचले
ऊँघती तराई

धरती का गन्ध लिपा आगन अकुलाया
सपनो के शिखर गले
पीडा गदराई

मौसम ने कुछ बिसरे पल छिन को टोका
कुछ कहने के पहले
आंख डबडबाई

रचना १९६२
कादम्बिनी मई १९६९

पीपल की टहनी से अँधियारा लटका है

□ □

पीपल की टहनी से अँधियारा लटका है
आगन मे उतर रही है
बैरिन साँझ

कगन के स्वर उभरे सपने कुछ खनक गए
ड्योढी के आस पास धु धले क्षण ठुनक गए
तालो के मुँह पर कुछ उजियारा छिटका है
दरपन मे सवर रही है
सौतिन साझ

कु ठा की एक लहर अगवारे दौड गई
केंचुल सी याद-किरण पिछवारे छोड गई
पोर पोर बाँसो का वेचारा चिटका है
जगल मे पसर रही है
नागिन साँझ

धीरे से बजारिन बसी' कुछ बोल गई
आर-पार पीडा की वन हसी डोल गई
नाता तो जीवन का प्यार से निकट का है
पल छिन मे मुकर रही है
बाँझिन साँझ

रचना १९६१
कादम्बिनी १९६२

एक सीधा अर्थ

□ □

एक सीधा अर्थ देता हर कली का चटक जाना
इन दिनों अच्छा नहीं लगता
तुम्हारा रूठ जाना

घास पर लेटी सुबह की धूप जैसी बात मन की
एक ऐसी बात है—

जिसका न होना असरता है
कई चीन्हे द्वन्द्व कितनी मूक-सी परिचित विधाएँ
सिमट जाती है कही तब प्यार का क्षण उभरता है

एक आदिम वेदना है, सूर्य का कुछ दहक जाना
इन दिनो अच्छा नही लगता
तुम्हारा रूठ जाना

एक टूटे हुए दरपन सी भला क्या जिन्दगी है
जहाँ कोई एक पूरा
बोध खण्डित दीखता है
कही भी कुछ और से कुछ और हो जाना सही है
किन्तु खण्डित प्यार जाने क्यो जनम भर चीखता है

ताप से ही जुडा लगता छाँह का कुछ सरक जाना
इन दिनो अच्छा नही लगता
तुम्हारा रूठ जाना

एक अन्तर्लीन पीडा जिसे तुम भी झेलती हो
और जिससे जूझने का व्रत मुझे भी चीयता है
भीड मे खोया हुआ हर क्षण तुम्हे ही ढूँढता है
दृष्टियो मे एक सपना
उबलता है, सीझता है

एक सच्चाई—अँधेरे मे किरण का भटक जाना
इन दिनो अच्छा नही लगता
तुम्हारा रूठ जाना

रचना १-१० ६५
प्रकाशित/नव्द

माध्यमों में बँटकर

□ □

माध्यमो मे स्वयम् बँटकर और जीना
बहुत मुश्किल है
सुनो, मेरी नवीना !
तुम्हे अच्छा नही लगता, यह विडम्बन यह विभाजन
कई खण्डो मे चिटखकर मैं अकेला बँट गया हूँ
कक्षाओ के सुनहरे
और सँकरे चौखटे मे
एक टूटे हुए दरपन की तरह मैं अँट गया हू
सिर्फ इतना ही पता है—
विवशता है, यन्त्रणा के जगलो की
नन्दिनी सी वेदना को रोज़ दुहना और पीना
बहुत मुश्किल है,
सुनो मेरी नवीना !
मैं समय की गलत तीखी छेनियो से कुछ अँधेरे की तरह ही
कट गया हूँ
क्या कहूँ मैं धूप इतनी पी गया हूँ—
एक सूखे ताल के फैलाव जैसा फट गया हूँ
जन्मभर के तुम सँगाती
शेष थाती इधर फैलाओ हथेली
लो सँभालो गीत मुँदरी, स्वर नगीना
माध्यमो मे स्वय बँटकर और जीना
बहुत मुश्किल है,
सुनो, मेरी नवीना !

रचना १९६६
प्रकाशित/'सन्मार्ग' दीपावली १९७०

और समय बीत जाय

□ □

आओ, हम चुपके से
आँखो मे उतर जायँ
और समय बीत जाय
कुहनी पर टिके हुए चेहरे का धुँधलाना
टूटे एहसासो को जोड रहा हो जैसे
यादो की साक्षी मे होठो का भिच जाना
लम्बी तनहाई को तोड रहा हो जैसे
भीतर तक धँसी हुई
लम्बाई काट दें
आओ हम खुरदरे तनावो से उबर जायँ
और समय बीत जाय

बाहो के घेरे मे सन्नाटा लिख जाना
मौसम की यह आदत ठीक नहीं लगती है
ऐसे मे गन्ध मुखर साँसो को झुठलाना
मन की लाचारी है,
सिफ धुआँ रचती है
दो हिस्सो मे पूरा
दद चलो बाट लें
आओ हम दर्पन मे
एक साथ उभर जायँ
और समय बीत जाय

रचना १९६५
प्रकाशित/कादम्बिनी मई १९६८

दृष्टियों के पार

□ □

दृष्टियों के पार,
आकुल देहरी पर एक चेहरा अभी उभरा, अभी उभरा
और जाने क्यों तुम्हारा याद आना बहुत अखरा बहुत अखरा

रोज़ 'दूधो और पूतो' नहाकर आई सुबह सी
एक अल्हड़ गीतवेला
सामने ढल गई होगी
रूप की हर पाँखुरी भी धुल गई होगी अचानक
फागुनी आकाश की
गमकी हुई नीली सतह-सी
साफ दिखता
कहीं काजल, कहीं बिन्दी, कहीं सेंदुर यहाँ बिखरा
वहाँ बिखरा
और जाने क्यों तुम्हारा याद आना बहुत अखरा बहुत अखरा

खेत से खलिहान तक पसरी हुई चैती फसल सी
बास-वन मे टिक गई होगी कहीं कोई प्रतीक्षा
जुड गए होगे कई क्षण
ओठ से भीगी पलक तक
साझ गदरा गई होगी, प्यार की पूरी गजल-सी
याद आता है,
अकेले मे
तुम्हारा पीपलो के नये पातो सा सुनहरा वदन निखरा
और जाने क्यो
तुम्हारा याद आना, बहुत अखरा बहुत अखरा

रचना १९६५
प्रकाशित/'वातायन

एक छुअन फागुनी

□ □

एक छुअन फागुनी पलाश वन उकेरे
मेरा ही नाम कही
बाँसुरिया टेरे
बुझी हुई याद को हथेली पर रेखना
ऐसे मे प्रिय लगता मुड मुडकर देखना
उँगली मे बँधा हुआ
कितना कुछ अनलेखा
बार-बार दहके सवेगो को घेरे
मेरा ही नाम कही
बाँसुरिया टेरे

टीसते अकथ्यो को, कहाँ-कहाँ बाँट दूँ
एक और मौसम क्या सूने मे काट दूँ
सेमल के फूलो पर
लिखा हुआ सवेदन
सूँघ सूघ भागे कस्तूरिया सबेरे
मेरा ही नाम कही
बासुरिया टेरे

रचना १९६८ माच
प्रकाशित/'धमयुग' १९७०

साँझ ढले

□ □

साँझ ढले
उभर गये,
यादों के सिलसिले

तैर गई आँखों में एक साथ गण्डिता
पूछ गई पीडा से लुप्त प्यार का पता
दीप जले
द्वार द्वार
मुखर हुए फ़ासले
साँझ ढले
आगन मे कंद मलयगंधो स्वर छीज गया
अँधियारा पिघल गया, पोर पोर भीज गया
ओठ खुले
गीत उगे
पलकों की छाँव तले
साझ ढले
उँगली मे बँधे हुए कितने छन बीत गए
दूरी के अर्थ भरे संवेदन रीत गये
फूल खिले
गुज़र गए
खुशबू के काफिले
साँझ ढले

रचना १९६१

एक छुअन फागुनी

□ □

एक छुअन फागुनी पलाश-वन उकेरे
मेरा ही नाम कहीं
बाँसुरिया टेरे
बुझी हुई याद को हथेली पर रेखना
ऐसे मे प्रिय लगता मुड मुडकर देखना
उँगली मे बँधा हुआ
कितना कुछ अनलेखा
बार-बार दहके सवेगो को घेरे
मेरा ही नाम कहीं
बाँसुरिया टेरे

टीसते अकथ्यो को, कहा-कहाँ बाट दूँ
एक और मौसम क्या सूने मे काट दूँ
सेमल के फूलो पर
लिखा हुआ सवेदन
सूँघ सूँघ भागे कस्तूरिया सवेरे
मेरा ही नाम कहीं
बाँसुरिया टेरे

रचना १९६८ माच
प्रकाशित/'धर्मयुग' १९७०

बिम्ब थरथराते हैं

□ □

बिम्ब थरथराते हैं
क्षण-क्षण टकराते ह
टूटकर गिरा कही पत्ता
बिखर गई
मौन की सत्ता
अब चरमराते ह,
बिम्ब
थरथराते हैं
गहरा और हुआ कुहरा
उभरा एक नही चेहरा
शब्द
फरफराते हैं
बिम्ब थरथराते हैं ।

रचना १९६१

• दर्पण की ओर
मुंह
करो

ओठ पर ताज़ा गुलाब

□ □

काश !
यदि मैं पकड पाता एक क्षण की भगिमा को
प्यार की पहली किरण से
लिख दिया जिसने तुम्हारे
ओठ पर ताज़ा गुलाब

वह हँसी प्रत्यूष वेला सी तुम्हारी
याद पडता है नही
कब कहाँ देखा
फिसल जाते हैं, हज़ारो नाम
सज्ञाएँ कही टिकती नही
क्या कहूँ—
क्या नाम दूँ मैं मान लो, कादम्बरी या पत्रलेखा
वन्दना की नृत्य-मुद्रा को समर्पित आख मे
पल भर छिपाकर
एक पूरी सुबह मेरी आँख मे तुमने उडेली
छन्दमय हो गया
मेरे प्राण का
आकाश
हो गया मैं धन्य यानी लग गई हो हाथ जसे
रोशनी से लिखी कोई
सृष्टि की पहली किताब
ओठ पर ताजा गुलाब

रचना १९६३

लौट गई हर आहट

□ □

यादो की सूली पर
कितने सन्दर्भ टँगे, कितने सकेत
जूड़े मे जवाकुसुम, शाम नही टाकेगी
सुबह गए-बीते का नाम नही आँकेगी
आँखो मे प्रश्नो के ढूह बहुत उभरे हैं
पोखर के तीर कई गुमसुम क्षण ठहरे हैं
मेडो की बाँहो मे—
सन्नाटा झेल रहे है उदास खेत

मुट्ठी मे बन्द नये अर्थ कौन खोलेगा
एक पर्त मौन प्यार व्यर्थ कौन खोलेगा
पीडा से सपनो के रिश्ते कुछ गहरे हं
जूझ गई स्पृहा कि घाट घाट बहरे हैं
लौट गई हर आहट
बाट जोह-जोह थकी नदिया की रेत

रचना १९६१
प्रकाशित/रूपलेखा १९६५

एक दिया बालो तुम

□ □

यादो के नाम चलो, एक दिया बालो तुम
मेहदिया हथेली पर रोशनी उगा लो तुम
ज्योति शख फूँको तुम आक दो सवेरा
छँट जाए ओठो पर
तैरता अँधेरा
महक उठे आगन मे कोई सम्बन्ध मौन
जीने की प्यारी सवेदना जगा लो तुम
एक दिया बालो तुम
उँगली मे बाधो तुम कचनी उजाला
रीत जाय धुध और
बीते दिन काला
चौमुख चौबारे पर लिख दो आलोक मत्र
आँखो मे एक मधुर स्वप्न नया पालो तुम
एक दिया बालो तुम
गीतों के गमके क्षण टूटने न पाएँ
धीरे से खीचो तुम
किरण रग बलगाएँ
तुलसी के चौरे पर रोप दो निवेदित मन
स्नेह-प्यार पूजन की थातियाँ सँभालो तुम
एक दिया बालो तुम

रचना १९६८
पोस्टर बम्बई

अन्तर्मुख विवशता

□ □

श्यामला,
तुम जानती हो प्यार का वह अर्थ
जिसको परस कर आवाज मेरी
दूर कितनी दूर मन मे उड गई है

अस्मिता खपती नही है देह के वातावरण मे
और यादें
बुझे-बीते समय खण्डो को
उफन कर बाँध देती हं चरण मे
इसे तुम भी जानती हो
एक अन्तर्मुख विवशता
प्रणय के सदीप्त क्षण मे
रोशनी की लहर जैसी मुड गई है

यन्त्रणा अँटती नही है आजकल के व्याकरण मे
और बातें
अनकही आधी-अधूरी
ऐंठती ह मौन की ठडी शरण मे
तुम जिन्हे पहचानती हो
उन क्षणो की अर्थवत्ता
रक्त कोपो के निलय मे
एक यात्रा सी अपरिचित जुड गई है

रचना १९६५

वर्तमान बिछुड़ गया

□ □

तुम से कुछ जुड़े हुए
क्षण पीछे छूट गए
क्या-क्या कुछ नया नया जीवन से जुड़ गया
आगे की प्रस्तुति में वर्तमान बिछुड़ गया

बर्फ की शिलाओं पर लिखे हुए प्रत्यय-सी
ओठों पर छंदित अनुबन्धों की बात चुकी
अपने ही गढ़े हुए मूल्यों की साक्षी में
यादों, सम्बन्धों,
सौगन्धों की रात बिकी
स्वीकृत अनगढ़ता के
सम्बोधन सिमट गए
परिचय का पूरा प्रतिमान ही सिकुड़ गया
वर्तमान बिछुड़ गया.

बार-बार प्रश्नों के भीतर ही प्रश्न उगे
जब जब कुछ मन के आयामों पर आंका है
शामों की बाहों में
कई-कई झीलों पर
भटका हूँ—पानी के भीतर तक झांका है
मेरी ही आकृति के
सही बिम्ब टूट गए
आंखों में झुका हुआ आसमान निचुड़ गया
वर्तमान बिछुड़ गया

रचना १९६५

कनेर के तले

□ □

इस कनेर के तले
चलो आओ तो क्षण भर बैठ लें

गुलमुहरो के गाव तक गया
हर पलाश की छाँव तक गया
कोई तो मन रँग ले
इस कनेर के तले
चलो आओ तो क्षण भर बैठ लें

दूरी को हम तिल-तिल जी लें
जो कुछ पाएँ मिल जुल पी लें
नयी सुबह होने के पहले
इस कनेर के तले
चलो आओ तो क्षण भर बैठ ले

आँखो-आँखो मे हम दिख लें
प्यार बहुत भीतर तक लिख लें
कुछ भी फिर ढुलके न ढले
इस कनेर के तले
चलो आओ तो क्षण भर बैठ लें

रचना १९६४

आँखों के बीच कहीं

□ □

भर आई आँखो से आखो के बीच कही
एक सूय उगता है
किरण फिसल जाती है

साझ के उभरने तक साँस का गमक जाना
यो ही कुछ लगता है प्यार का ठमक जाना
तुम से कुछ कहूँ-कहूँ
ऐसी कुछ बात नही
भर आई आँखो से आखो के
बीच कही
प्राणो का रिश्ता है, पीडा कहलाती है
किरण फिसल जाती है

वृत्त भी लहकते है धूप सरक जाने तक
वस्तुएँ भली लगती आग लहक जाने तक
कुछ छूटा अभी अभी
मन बिसरा यही कही
भर आई आखो से आँखो के
बीच कही
मौन तो विरमता है मौत निकल जाती है
किरण फिसल जाती है

रचना १९६२
प्रकाशित वातायन

मौन का पिघलाव

□ □

कहा तक
कोई सहेगा दर्द का इतना दबाव
बहुत मुश्किल झेल पाना मौन का पिघलाव

डबडबाकर झुक गई होगी तुम्हारी आँख
धँस गई होगी कही भीतर
बहुत भीतर एक टूटन की सलाख
कुछ गझिनतर हो गया होगा अचानक
दद का
भीगा कसाव
बहुत मुश्किल झेल पाना मौन का पिघलाव

कृष्णचूडा-सा भरा-पूरा हुलसता प्यार
चुक गया होगा
अकेले ही अकेले जूझकर बोझिल क्षणो से
एक क्या—लाखो, हजारो बार
याद का आकाश निश्चय
तन गया होगा परस कर
कही कोई घाव
बहुत मुश्किल झेल पाना मौन का पिघलाव

रचना १९६४

ओ सुनेत्रा

□ □

ओ, सुनेत्रा !
मुझे कल तक बहुत अखरा
प्यार के उभरे क्षणो का
यो अकारण टूटकर कुछ ऐ ठ जाना
कि तु पिछले
सभी प्रत्याशित दुराग्रह
अब तुम्हारी
अनाकाक्षित कनखियो से
दूर रहकर भी
बहुत नजदीक लगते
ओ सुनेत्रा
साल भर से ब द ओठो पर तुम्हारे
आज मुस्का बहुत भाया
प्यार के तिरते क्षणो का
कई रत्तो हसी बनकर
कुछ सिमट कर
बिखर जाना

रचना १९६४

एक पखुड़ी जवाकुसुम की

□ □

कब से बन्धु, तलाश रहा हूँ
एक पखुडी जवा कुसुम की

रक्तिम कही रक्त मे भी कुछ ताजा ताजा
उभरी हुई
गीतवत मन पर
जिसके लिए अकथ्य ओढकर
अपने आकुल युवा समय तक
कु ठित और हताश रहा हू
कब से बन्धु तलाश रहा हूँ
एक पखुडी
जवा कुसुम की
और कण्व के आश्रम की उद्वेलित विह्वल
किसी फूल कन्या के मन-सा
'ऐ जेलो' के
शिल्पाकन सा
बस कुछ ऐसा ही प्रत्यय मैं
हरदम कही तराश रहा हू
एक पखुडी जवा कुसुम की
कब से बन्धु तलाश रहा हूँ

रचना १९६६

दर्पण की ओर मुँह करो

□ □

दपण की ओर मुँह करो
ओठ पर उँगली धरो
और अपना मन छुओ
देखो तुम आँखो के मोतिया उजास मे
गन्ध मे नहायी सी
गमकीली सास मे
कुछ रीते बीते क्षण
याद मे उभरते है
हिमपखी गीत हस मानस मे तिरते ह
कुछ तो विश्वास तुम करो
दर्पण की ओर मुँह करो
ओठ पर उँगली धरो
और
अपना मन छुओ

रचना १९६५

जीने का मौसम

□ □

कही कुछ तो नही बदला है
सूरज रोज की तरह निकला है

ब्रह्माण्ड की विसगतियो को बटोर कर
रत्ती-रत्ती भर
अपने अस्तित्व को तोडकर
पिघला है, शाम को ढला है
सूरज रोज की तरह निकला है
कही कुछ तो नही बदला है
बुझा-बीता
बहुत कुछ कितना क्रमागत
आगत-विगत
हर क्षण अनाहत
एक क्षण जीने का मौसम
कितना भला है
कही कुछ तो नही बदला है
सूरज रोज की तरह निकला है

रचना १९६६

ओ मेरे अन्तरग !

□ □

ओ,
मेरे अन्तरग !
हमारी यात्रा फिर कब शुरू होगी
मैं एक अ-यात्रा के बाद
तुम्हारी प्रतीक्षा मे
काठ के छोटे खुशनुमा कमरे की दहलीज पर
निस्तब्ध और नितान्त विलुब्ध सा खडा हूँ
दरवाजे की पूरी लम्बाई मे
सामने दिखता
शाम का मेघाच्छन्न आकाश
कुछ इस तरह अँट गया है
और मेरा प्यार
कुछ इस तरह बँट गया है कि
एक अनायत्त
शुक्रवत, शाश्वत अमृतवत
मणिप्रभ तारे के अतिरिक्त
कही कुछ भी नही दिखता
ओ
मेरे अन्तरग
हमारी यात्रा कब शुरू होगी

रचना १९६६

• हमारे बीच की

दूरी

नही टूटती

कुहरे में डूबे नगर के साथ

□ □

सडको, गलियो चौराहो मकानो
और बेकार लावारिस मैदानो की तरह
कुहासे की नदी मे डूबे एक पूरे नगर की तरह
मैं कही
बहुत गहरे डूब गया हूँ
मेरी निगाहो की पकड के बाहर
एक नीलापन तरता है
एक याद तैरती है
क्षणो का एक लम्बा सिलसिला टूट जाता है
लगता है
मैं अपनी ही तलाश मे
अपनी पूरी लम्बाई तक डूब गया हूँ

न जाने कब मेरे करीब
एक ऑक्टोपसी छाया उभरती है,
अनायास उसकी बाँहो मे जकडा जकडा
दिनो सप्ताहो, माहो तारीखो
और ट्रामो बसो मे ठूँसे खुदगर्ज लोगो की तरह
अलग अलग साचे मे
ढलती हुई भीड की तरह
मैं अपने दरवाजे पर खडा-खडा
समूचे नगर के साथ डूब गया हूँ

रचना १९६६

हिरण्य-गुलाब

□ □

मैं अपने अनकहे क्षणो के बीच
निर्वाक् स्तम्भित घिरा हूँ
खडा हूँ
जन्म काल से ही
अँधेरा चीरने के गुनाह मे
प्यार की एक ऐसी सलीब पर जडा हूँ
जो गुलाब की टहनियो जैसी है
मेरे अस्तित्व के आधार पर टिकी
अगीकार
और तिरस्कार की मिली जुली कनखियो जैसी है
दृष्टियो मे
बुझा हुआ मेरा अतीत
न जाने कहा
किसी हिरण्य-गुलाब की
पखुडियो पर चिपका है
और
न जाने क्या कुछ
पाने की स्पृहाओ के बीच
स्वयम जकडा हूँ

रचना १९६३

टूटा सेतु

□ □

बहुत पहले
हमने मन की सतह पर
एक दूसरे की देह यत्रणा के बीच
रेशमी रेशो का एक सेतु रचा था
लेकिन कुछ दिन बाद
उस पर
तुम्हारी दृष्टियो के फिसलने का अन्दाज
इतना अजनबी था
दबाव इतना तेज था
वह टूट गया
हम चिटख गये
अब वहाँ कुछ नही है
सिफ कुहरा तना है
जहा हम थे आमने सामने
गहरा नीला घुआ उगा है
और
उस पर एक बारीक फासला
मौत के आखिरी लमहो जैसा टँगा है

रचना १९६४
प्रकाशित/'अक्षर'

तुम्हारे बगैर

□ □

तुम्हारी आँखो मे लिखा हुआ
अपने होने का
सही दस्तावेज़
ख़ुशनीयती के साथ
मैंने फाड दिया है
निर्णय के बावजूद
गलत लगता है तुम्हारा औरत होना
और उससे भी ज़्यादा
गलत लगता है
तुम्हारी आँखो के भीतर
बहुत भीतर
सीधे गहराई तक उतर जाना
ज़रूरी नही—तुम्हे इस बात का पता हो
मैं तुम्हारे
बगैर
कुछ और जिन्दा रहने की कोशिश कर रहा हूँ
काश !
मोनालिसा की मुसकान जैसी
समुद्र मे डूबी हुई तमाम शामे
तुम वापस कर सकती

रचना १९६५
प्रकाशित/'अक्षर

अनामा मत्स्यकन्या के नाम

□ □

ओ, मत्स्यकन्या !
तुम्हे शाम का उदास होना अच्छा नही लगता
खाली हाथ लौटे मछुवाहे
तुम्हे नही भाते
नाव की एक यात्रा है —
जो लक्ष्य नही छूती
जीवन का एक सही अर्थ है जो कही नही मिलता
देखती हो
मेरा अनुताप गल रहा है
मुझे तुमसे कुछ मिल रहा है
सुनती हो,
मैं सिर्फ एक प्रयोग कर रहा हूँ
शून्य मे हवा की तरगो पर
एक साम्प्रयोगिक काल की स्थापना कर रहा हूँ
मैं कुहासा रच रहा हूँ
जो तुम्हारी आंखो
और ओठो के बीच पसरे हुए
सारे धुएँ को आत्मसात कर लेगा
तुम्हारी हथेलियो पर
आलोकवर्षी प्रात धर देगा

रचना १९६१
प्रकाशित/अलकावली, १९६३

एक गगाजली शाम की अप्रत्याशित मौत

□ □

एक प्रश्न है, जो मेरी उँगलियों मे बँधा है
एक बात है,
जो मुझे कुरेदती है, काटती है—
एक हलका धुँधलका
और उसके सद स्याह ओठो पर

रेंगती हुई एक बेनाम प्यास
एक अनकहे तथ्य के इर्द-गिर्द
मँडराते उफनाते जवान अँधेरे की आँखों में
डूब जाना चाहती है
दूर नदी के पानी की खामोश सतह पर
लंगरों से बँधी लेटी नावें
मल्लाहों से जीवन का अर्थ माँगती हैं
इस पार से उस पार तक तने
प्यार के कई गंगाजली रेशे टूटते हैं
क्षण भर के लिए
मेरी ऊजस्वल एकनिष्ठ जाँघों पर
एक संगमरमरी, अनचीन्ही कुहनी टिक जाती है
एक जाना पहिचाना प्रश्न टकराकर लौट जाता है
और आदिम संवेगों की मुट्ठियों में बँधी
तमाम टूटती ऐंठती स्पृहाएँ,
तप्त अनुतप्त शिराएँ
एक निर्वीर्य ठिठुरे सन्दर्भ से चिपक जाती हैं
एक आवाज सामने खड़े स्मारक के बाहर भीतर
एक बार गूँजकर, दूर बहुत दूर भाग जाती है
एक अस्तित्व छटपटाता है
एक प्रश्न मँडराता है
एक साँझ न जाने कहाँ दुबक जाती है
एक प्रश्न है जो मेरी उँगलियों में बँधा है
एक बात है
जो मुझे कुरेदती है, काटती है

रचना १९६१
प्रकाशित/रूपलेखा १९६५

ठडी सुबह : टूटे रेशे

□ □

कुछ कच्ची कमसिन किरणें
कुहासे को चीरकर
मेरे सिरहाने ठिठक जाती हैं
अचानक आँख खुलने पर
बहुत-बहुत सी बात-यादें उभर आती ह
फिर कुछ इस तरह
झटक कर उठता हूँ कि
उनके तमाम सुनहले रेशे टूट जाते है
सामने वाले पीपल की पत्तियो पर टिकी
ओस की बूँदें फिसल जाती ह
रात भर गन्धफरोशी की भूमिका मे
'रातरानी' की पत्तिया
टहनियाँ कुछ हल्कापन
महसूस कर रही है
नगर वधुएँ चेहरे पर चन्दनी अल्पनाओ के साथ
नदी मे डुबकियाँ लगाकर लौट रही ह
और मैं
घटो मिनटो की नाप तौल करते करते
अपने और तुम्हारे बीच की
दूरी तय कर रहा हूँ

रचना १९६२
प्रकाशित 'त्रिकोण'

निष्कलुष हँसी के लिए

□ □

तुम्हारे ओठो की सतह पर
मन का बहुत कुछ उभर आना
मेरी अनामधेय रिक्तता को उभारता है
मेरे पौरुष को ललकारता है
किन्तु
तुम्हारी डबडबाई हुई आँखो की घाटियो मे
कई सूर्यो का ठडा हो जाना
भीतर ही भीतर बेतरह कचोटता है
लगता है
मेरी चेतना के सीने पर कही
साँप लोटता है
और
मैं तुम्हारी गोद मे सिर रखकर
अपने पिघले हुए अहम् को
पी जाता हू
तुम्हारी क्षणभर की निष्कलुष हँसी के लिए
एक बार फिर जी जाता हूँ

रचना १९६२
प्रकाशित/कविता—अजमेर

हमारे बीच की दूरी नहीं टूटती

□ □

सुनो,
श्यामला !
न जाने क्यों —हमारे बीच की
दूरी नहीं टूटती
सिर्फ हम टूटते है
छुओ,
श्यामला
गुनगुनाती शिराओ
और गदराए स्पन्दनों के मुंह पर
कहीं कुछ बर्फ-सा जम गया है
आंच दो
आंचल दो
जानती हो
समानान्तर रेखाएं जुडती नही
किन्तु उनका होना खिचना सही है
उनकी दूरियां सतुलित हं
और
उनके बीच एक ईप्सित अर्थ लेटा है

रचना १९६१

भरे बेला फूल आचल मे

□ □

फरफराया—
हवा मे आँचल तुम्हारा हरिदया
और फिर कोंधी हथेली मेहदिया

प्यार के कुछ क्षण धुंधलके मे कही फरिया गए
तुम्हे भूले दिन तुम्हारी याद मे हरिया गए
शोख वैशाखी सुबह की
सांस महकी
देह दहकी
ओठ पर किसने अचानक
गुलमोहर रख दिया
आज फिर

भरे बेलाफल आचल मे तुम्हारा बिम्ब उभरा
श्याम तनुभा छोटता-सा फूलदेही छन्द लहरा
दूब पातो सी पलक पर
चुका कोई
क्षण ढुलक कर
आँख मे बीते समय ने
दद गीला लिख दिया
आज फिर

रचना २४-४ ८५

• छन्द-पुरुष

की

यंत्रणा

दफ्तर से लौटता हुआ

□ □

सूरज कब भाग गया
याद नही—
महानगर रौंदता हुआ

सुबह सुबह लगता है
सब कुछ पहचाना सा पीछे को छूटता
और शाम होते ही
कुहनी से टखनो तक रुका समय टूटता
भीड सिर्फ भीड मौन खो गया
फुटपाथो पर ठहरा
दर्द खौलता हुआ

रोज बसो ट्रामो मे
एक युद्ध जीने की यन्त्रणा सहेजना
कितना दुखदायी है
कविता से रोटी तक की दूरी झेलना
सोच रहा हूँ क्या-क्या
दफ्तर से थका
चुका लौटता हुआ
सूरज कब भाग गया
याद नही
महानगर रौंदता हुआ

रचना २-६-७१
प्रकाशित/'पोस्टर', बम्बई मार्च १९७२

ऐसी कुछ बात हुई

[युद्ध-अकाल वियतनाम]

□ □

ऐसी कुछ बात हुई
ऋतुओ ने तोड दिया मौसमी चलन
चलो, जीने का अथ कही—
हम भी तलाश ले

मौन कही ठहरा तो सीमायें टूट गई
बजर अहसास गढा निथरे आकाश ने
धरती के होठ बुझे
इ च इ च जीवन की रेखायें टूट गई

गहरे तक चुभी सुई
तेज हुई अनचाही मौत की छुअन
चलो, जीने का अर्थ कही
हम भी तलाश लें

जहरीली गैसो ने मिट्टी की सांस चुगी
खेतो को सूँघ लिया बारूदी बोध ने—
पौधो की जगह कही
उर्वर विस्तारो मे लाशो पर लाश उगी

बीती-सी बात हुई
फस्लो के चेहरे की पिस्तई फबन
चलो, जीने का अथ कही
हम भी तलाश लें

रचना १९६५
प्रकाशित/त्रिपथगा १९६७

धानों का देश

[एक अकाल यात्रा]

□ □

टूट गया महके सीवानो का देश
दूध भरी
नदियो का, धानो का देश

बैठा है मन मारे जैसे कगाल
फैलाए धरती का चिथडा रूमाल
रत्नो का सौदागर
अन्नो का जादूगर

टके सेर बिकता है
लाख लाख खानो-खलिहानो का देश
धानो का देश
दरवाजो पर चिपका साप सा अकाल
सन्नाटा तिरता है सूखे हुं ताल
खेतो की आन-बान
फस्लो का हुक्मरान
टके सेर बिकता है
सोनाली गेहूँ के दानो का देश
धानो का देश
गांवो से नगरो तक भूख से निढाल
उगती है भीड सिर्फ पेट का सवाल
मिट्टी का मगल स्वर
हल हसियो का ईश्वर
टके सेर बिकता है
मेहनत से जूझते किसानो का देश
धानो का देश
श्रद्धानत नीराजन, घटे घडियाल
फेंको चौराहो पर पूजा के थाल
धर्मो का कीर्तिमान
मन्दिर का निगहबान
टके सेर बिकता है
कोटि कोटि भोगी भगवानो का देश
दूध भरी नदियो का धानो का देश
टूट गया महके सीवानो का देश

रचना १९६५
प्रकाशित/दैनिक विश्वमित्र

माटी की गन्ध लिखें

□□

आओ,
हम खुलकर कुछ अपने सम्बन्ध लिखें
धरती से नाता है—माटी की गन्ध लिखें

कलमो से तोड हम अनलिखे अँधेरे को
सुबह के सिवानो मे धूप, धान रोप द
रोशनी उगाने की
भाषा छितरा दें हम
छन्दो को प्यार भरा आसमान सौंप दें

रक्तिम हस्ताक्षर-सी
किरणो के अक्षर सी
क्षितिजो पर सूयमुखी कोई सौगन्ध लिखें
माटी की गन्ध लिखें

हम विपन्न बोधो के कुहरे को चीरकर
भूख लिखे चेहरो पर रोजी-रोटी लिख दें
खून की, पसीने की
रस्मे गुहराती है
खेतो के पन्नो पर अन्नो के मोती लिख द

आवाजें रचने का
धुन्ध को खुरचने का
आंखो मे मौत के खिलाफ नया छन्द लिखें
माटी की गन्ध लिखें
आओ,
हम खुलकर कुछ अपने सम्बन्ध लिखें

रचना १८-२ ७४
प्रकाशित/दनिक स माग

छन्द-पुरुष की यन्त्रणा

□ □

जिस दिन तुम पहली बार उतरी थी
मेरे आँगन मे
अपनी दहलीज लाँघ कर
वेणी मे गूँथे सूय फूल
माथे पर रचे
आकाशरग बिन्दी
उगलियो मे लपेटे बकुल गन्ध
आखो मे आजे नीलकमल
आचल मे आँके अमलतास

ओठो पर उगाए असंख्य गुलाब
उस दिन
अचानक पडोस के अहाते की मेहदी
न जाने कब पणवती हो गई

दूर बहुत दूर तक मेरे भीतर
तैर गई देह की ऋतुमयी हरीतिमा
मैं तुम्हारा विद्युतप्रतिम आँचल पकडने के लिए
भागता रहा पीछे पीछे
एक अनाम प्रजापति की तरह
अपना ही प्रतिबिम्ब रौदता हुआ
एक आकाश से दूसरे आकाश तक
लेकिन
मेरी रचना के केन्द्र मे दहकती हुई
ओ, द्युतिवती अदिति
मुझे सौंप कर
एक छन्द पुरुष की यत्रणा
तुमने ओढ ली कुछ ऐसी सज़ाएँ
जिन्हे मैं अपने समय के साथ झेलता रहा
तुम्हारे लिए स्वय के विरुद्ध लडता रहा
एक दिन
तोडकर तमाम वर्जनाएँ
तुम्हारी प्रतिमा को छुआ तो वह कही
सावित्री, कही सरस्वती, कही पार्वती हो गई
अचानक पडोस के अहाते की मेहदी
न जाने कब पणवती हो गई

रचना १९६६

कहीं से आती नहीं है बाँसुरी की धुन

□ □

बात कोई कही गहरे चुभ गई
एक सन्नाटा सुबह से ही
स्वरो को डस रहा है
कही से आती नही है बासुरी की धुन

मौन है आकाश गगा, सुन है सारी दिशाएँ
प्यार की किरनिल तरगे किस नदी मे थरथराएँ
मृगी कोई सहमकर कुछ रुक गई
सूय का रथचक्र
सूने चीड वन मे धँस रहा है
कही से आती नही है बासुरी की धुन

साँस मे खुशबू लिखे आकाश को क्या हो गया
रूप रस स्वर छन्द रचकर स्वय मे ही खो गया
नीलकठी चेतना भी बुझ गई
रोशनी की लाश पर
बैठा अँधेरा हँस रहा है
कही से आती नही है, बांसुरी की धुन

रचना २७ ४ ८५

मन के विम्ब रहे अनदेखे

□ □

क्या क्या
खेल न खेल देखे
मन के बिम्ब रहे अनदेखे

देह दीप व्यजना किसी की
सांस सांस वन्दना किसी की
लौ से लय तक
ज्योति सुषुम्ना
सुलग गए सुधियों के लेखे

कही न कोई एकतानता
जडता को झेले चेतनता
बिंदु विसग
न गहरे उतरे
कौन सहज को आके रेखे

रचना ७ १-८३

दर्द के अनाम छन्द

□ □

मधु ऋतु के आँगन मे बौराए आम
दहक गए पँखुरी पर
लिखे नये नाम
ओठो पर आँक गया कौन वन-पलाश
आखो मे छलका रूमानी आकाश
सेमल की डाल-डाल
हुई फूल फूल
गमक गया गन्ध लिखा देह भर प्रणाम
बौराए आम
महुये-सा मन महका बाँटता खुमार
शिरा-शिरा बजती है खनक गया प्यार
सरसो के कर्ण फूल
चुपके से हिल गए
कई छन्द सँवर गए दर्द के अनाम
बौराए आम

रचना ३१-१-८६

खुशबू लिखी कोरी किताब

□ □

हम जिसे पढ़ते रहे,
बरसो बसती भूमिका मे
क्या कहूं जाने कहाँ गुम हो गई
वह प्यार की खुशबू लिखी कोरी किताब
फरफराते कमल पत्रो की तरह पन्ने कई
और जल मे काँपते
चिकने मृणालो सी हमारी याद की परछाइयाँ
क्या पता था
फूल जैसे उन क्षणो को या हमारे बीच
ठहरे गुनगुनाते उस समय को
निगल जाएँगी कही तन्हाइयाँ
बहुत मुश्किल है
कि कोई अर्थ अब उभरे समान्तर
याद आते वे गए दिन
बाँकपन के
मुग्ध मन के
जानते हैं,
जिन्हे जूडे मे गुँथे गेंदा गुलाब
क्या कहूं
जाने कहाँ गुम हो गई
वह प्यार की खुशबू लिखी कोरी किताब

रचना ५-२ ८६

बाँट दो चिकना उजाला दूधफेनी

□ □

मृत्यु की वशी न टेरो
        ओ सपेरो !
तुम न बाँधो
गीत-मृग की मुक्त लयवन्ती छलाँगें
सुनो बन्धो,
गध लिखने की विधा हम कहाँ माँगें
प्यार का नवगीत सुन लो
युद्धमुख बहरे अँधेरो
        ओ सपेरो !
'दिया' वालो
बाँट दो चिकना उजाला दूधफेनी
स्वर उगा लो,
तेज कर लो गुहावासी दृष्टि छेनी
समय के गहरे विवर में
एक मणिप्रभ छन्द हेरो
        ओ सपेरो !
मृत्यु की वशी न टेरो

रचना २३-५-७०

जनवादी हरापन

□ □

चलो
आंखो मे उगा लें प्यार का हम नया सावन
हम वनस्पति वर्ण होकर जिएँ बाँटें
एक जनवादी हरापन
अस्मिता की भूमियो पर
एक मौसम की तरह हम पसर जाएँ
चलो,
अपनी जडो तक हम
एक माटी गन्ध लिखकर और गहरे उतर जाएँ
आसमानो तक खिलें
हम और
फूले-फलें
नयी खुशबू को सहेजे राजपथ से जुडी
राहो का अकेलापन
एक जनवादी हरापन
हम हवा की तरह गमकें
रोशनी की धार बनकर बिजलियो की तरह लरजें
और,
पानी के चमकते अक्षरो से
रेत जसे मनस् प्रान्तर मे नदी सिरजें
महासागर तक बहे
हम और
झेले सहे
नये सुख की व्यजना मे नयी फस्लें बुनें, रोपें
एक बुनियादी बडापन
एक जनवादी हरापन

रचना १-२ ७८

आँगने गुलाब झरे

□ □

किलक उठे गाछो के पात-पात, हरे हरे
ऐसे मे भला कौन—
पतझर की बात करे

जीवन तो कही नहीं नीरस निस्पन्द है
अणु-अणु के भीतर गतिमान छन्द छन्द है
प्यार एक शक्ति-कूट
तार तार
है अटूट
तन सँवरे मन बौरे, अग-अग गन्ध भरे
पात-पात हरे हरे

ऋतुपाखी जाने कब बगिया मे चहक गया
टहनी का दद खिला फूलो मे दहक गया
हर पँखुरी फरक गई
दूरी भी
सरक गई
धरती के ओठ खुले, आँगने गुलाब झरे
किलक उठे गाछो के
पात पात हरे हरे

रचना माच १९८०
प्रकाशित/दक्षिण दीप, साप्ताहिक अगस्त १९८२

उजला-उजला दर्द जिया है

□ □

जिसने जल जल कर जीवन भर
उजला-उजला दर्द जिया है
वह माटी का एक 'दिया' है

कोई तपसिन ताप ओढ़कर मौन हुई तब माटी जनमी
परत दर परत टूटी चिटखी गदराई तब आई नरमी
फिर कुम्हार ने जी भर गूँधा
कुछ-कुछ
और गुदाज हो गई
धीरे धीरे अपने मालिक[1] की पूरी हमराज हो गई

चाक चढी गर्दिश-गर्दिश
तब नाक-नक्श के स्वर उभरे
दद और दिल दोनो उतरे
'दिया'-दृष्टि मे गहरे-गहरे
बरसो आग और पानी का
रूप रग रस स्वाद जिया है
वह माटी का एक दिया है

यही रोशनी देने तक की एक सहज सी तैयारी है
माटी से मन तक प्रकाशमय कितनी प्यारी यह यारी है
शुद्ध बुद्ध, निर्वाण शून्य की
यही ज्योति यात्रा
पूरी है
माटी के लोदे से लौ तक
अलख-छन्द-लय की दूरी है
ज्ञान धम, मत-मजहब सबसे
परे प्यार की किरण केलिया
दिया' उसी का बिम्ब 'सहजिया
निगहबान आंचल हथेलियां
अक्षर से क्षर तक चिन्मय का
मूल और अनुवाद जिया है
वह माटी का एक दिया है

रचना २-१-८३
प्रकाशित/पूजा दीपावली विशेषांक स माग'